इकाई 21 स्वतन्त्र भारत का उदयः लोकतांत्रिक शासन प्रणाली की स्थापना*

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 लोकतंत्र की अवधारणा : इतिहास

21.2.1 प्रारम्भिक उदारवादी

21.2.2 उदार लोकतंत्र की सीमाएँ

21.3 भारत में लोकतांत्रिक विचारों और संस्थाओं का विकास

21.3.1 ब्रिटिश शासन का प्रभाव

21.3.2 संविधान सभा की स्थापना

21.4 मूल अधिकारों और नीति निदेशक सिद्धांतों का प्रश्न

21.5 लोकतांत्रिक राज्य की ओर

21.5.1 केन्द्र में संसदीय व्यवस्था

21.5.2 राज्य

21.6 निर्वाचन व्यवस्था

21.6.1 लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व की ओर

21.6.2 सीमाएँ

21.7 संघीय राज्य व्यवस्था बनाम केन्द्रवाद : एक लोकतंत्रात्रिक राज्य के विकल्प

21.7.1 संघवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

21.7.2 विभाजन और संघवाद

21.7.3 प्रशासनिक और वित्तीय ढाँचे की बाध्यताएँ

21.8 सारांश

21.9 शब्दावली

21.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

21.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- लोकतंत्र की अवधारणा का इतिहास जान सकेंगे;
- भारत में लोकतांत्रिक विचारों और संस्थाओं के विकास के बारे में बता सकेंगे; और
- उन सीमाओं को जिनके अन्तर्गत ये विचार और संस्थाएँ काम करते हैं, जान पायेंगे।

21.1 प्रस्तावना

लोकतंत्र आज के विकासशील देशों का नारा है। सभी राजनीतिक विचारों के समर्थक इसके प्रति निष्ठा की घोषणा करते हैं। लेकिन व्यवहार में अलग-अलग वर्गों, समूहों और

* यह इकाई ई.एच.आई.-01 की इकाई 37 पर आधारित है।

पार्टियों के लिए लोकतंत्र के अर्थ एकदम भिन्न हो सकते हैं। मतलब यह कि लोकतंत्र की कोई एक सर्वसम्मत परिभाषा नहीं है। भारत में भी लोकतंत्रीय विचारों और संस्थाओं का विकास विभिन्न वर्गों, समूहों और पार्टियों के अपने-अपने विचारों के संदर्भ में हुआ। उपनिवेश विरोधी संघर्ष की पृष्ठभूमि तथा स्वतंत्रता के बाद की घटनाओं ने इन विचारों को सुनिश्चित दिशा दी। इस इकाई में इनकी चर्चा की जाएगी।

21.2 लोकतंत्र की अवधारणा : इतिहास

''डेमोक्रेसी'' शब्द की अवधारणा के रूप में उत्पत्ति पाँचवीं बी.सी.ई. में यूनान के कुछ नगर-राज्यों में प्रचलित शासन प्रणाली की व्याख्या करने के लिए हुआ था। इस यूनानी शब्द ''डेमोक्रेसी'' के अनुवाद से हमें लोकतंत्र की आधारभूत परिभाषा ''लोगों द्वारा'' या ''लोगों के शासन'' के रूप में प्राप्त होती है। आधुनिक संदर्भ में लोकतंत्र के मतों को सबसे पहले आधुनिक यूरोप के प्रारंभिक चरण में पूर्व पूँजीवादी विचारधारा और शासन की समालोचना के रूप में पुनः स्थापित तथा परिभाषित किया गया। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में पूँजीवाद का उद्भव हुआ। तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था का पतन हुआ। इसी अवधि के दौरान पुनर्जीवित लोकतांत्रिक विचारों ने उदारतावाद के सिद्धांतों के तहत अपना अवधारणात्मक स्वरूप और व्यावहारिक सामाजिक अर्थ ग्रहण किया।

21.2.1 प्रारंभिक उदारवादी

लेवेलर्स (Levellers), जान लॉक (John Locke) जैसे प्रारंभिक उदारवादियों और बाद में रूसो, मिल तथा अन्य उदारवादियों ने अब तक के इस प्रमुख विचार को अस्वीकार कर दिया कि समाज ने स्वाभाविक पदानुक्रम निर्मित किया है। उन्होंने राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धांत पर आधारित सरकार और शासन के पितृसत्तात्मक सत्ता के विचार को अस्वीकार कर दिया। इन उदारवादियों ने शासनाधिकार का आधारभूत स्रोत लोगों की सहमति से बताया। जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकार मानव विकास के लिए मूल अधिकार माने गए। लेकिन इन उदारवादियों ने समाज के लिए कोई रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की जिसमें प्रत्येक व्यक्ति इन अधिकारों का उपभोग कर सके। समानता का अधिकार तो मात्र एक अमूर्त सिद्धांत ही रहता था, और कानून के आगे एक प्रकार की औपचारिक समानता के रूप में यह सिद्धांत आज भी अमूर्त बना हुआ है। अधिकांश उदारवादी, अपवाद स्वरूप रूसो को छोड़कर, यह मानते थे कि जायदाद और सम्पत्ति का अधिकर एक व्यक्ति के व्यक्तित्व और सामाजिक समृद्धि के विकास के लिए बेहद महत्वपूर्ण है। जबकि लॉक और मिल के दर्शन में जन सहमति पर आधारित शासन को बुर्जुआ लोकतंत्र के सार तत्व के रूप में निरूपित किया गया था। रूसो के विचार में जन सहमति पर आधारित शासन का अर्थ था एक छोटी राज्य व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्यक्ष लोकतंत्र और लोक प्रभुसत्ता की आदर्शवादी धारणा।

21.2.2 उदार लोकतंत्र की सीमाएँ

व्यवहार में उदार लोकतंत्र की अपनी सीमाएँ हैं। उदार लोकतंत्र हमारे सामने लोकतंत्र का कोई ऐसा आदर्श स्वरूप प्रस्तुत नहीं करता जहाँ सभी लोग समान रूप से मताधिकार का प्रयोग कर सकें। उदाहरण के लिए, उदार लोकतंत्र के एक प्रखर समीक्षक जे. एस. मिल ने अल्पसंख्यक धनिक वर्ग के लिए बहुमतदान (Plural Voting) की वकालत की। ऐसा इसलिए सोचा गया था कि बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग की शक्ति के विरुद्ध उभरते हुए पूँजीपति वर्ग के पक्ष में एक उचित संख्यात्मक संतुलन बनाया जा सके। वर्तमान शताब्दी में सार्वभौमिक वयस्क मतदान की शुरुआत के साथ ही लोकतंत्र के विचार प्रतिनिधिक स्वरूप ग्रहण कर सके। इस उपलब्धि के बाद ही ''लोकतंत्र''

मतदान प्रणाली के अर्थों में परिभाषित (क्रियान्वित) मशहूर शब्द बन सका। इस तरह आज लोकतंत्र की पहचान अनिवार्य रूप में ऐसी सरकार की शासन व्यवस्था के रूप में होती है जो स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों के माध्यम से सत्तारूढ़ हुई हो।

लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व की प्रकृति

अब सवाल यह पैदा होता है कि ये प्रतिनिधि (या लोकतांत्रिक) सरकारें और उसकी चुनाव प्रणालियाँ वस्तुतः कितनी प्रतिनिधिक है? क्या सार्वजनिक या व्यापक मताधिकार ने चुनी गई सरकारों को अधिक लोकतांत्रिक बनाया है? इस सवाल की रोशनी में जब हम प्रतिनिधिक लोकतंत्र की विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं की कार्यपद्धतियों (यानी सरकार के अध्यक्षीय या संसदीय प्रकार, राजनीतिक सत्ता की एकात्मक (Unitary) या संघीय संरचना और मतदान या मताधिकार के प्रयोग की पद्धति) का अध्ययन करते हैं तो हम पाते हैं कि आधुनिक राजनीति में इन संस्थाओं के कार्य करने का तरीका प्रमुख रूप से प्रचलित पार्टी पद्धति से तय होता है। पिछले लगभग दो सौ वर्षों के दौरान राजनीतिक पार्टियों का विकास, आधुनिक लोकतंत्र की राज्य व्यवस्थाओं में हुआ सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक विकास है। लोकतंत्र का कार्यान्वयन आज चुनाव पद्धति से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक पार्टियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता के माध्यम से ही हुआ माना जाता है।

राजनीतिक पार्टियाँ और लोकतंत्र

आधुनिक लोकतंत्रों में सत्तारूढ़ पार्टियाँ निरपवाद रूप से नेतृत्व, केन्द्रीकरण, अनुशासन और संरक्षण आधारित सत्ता के सिद्धांत पर टिकी हुई हैं। इससे अनिवार्यतः इन पार्टियों का नौकरशाहीकरण होता है, फिर इसके परिणामस्वरूप निर्णय लेने का एक अभिजात्य ढाँचा तैयार होता है। इसलिए जोसेफ शूम्पीटर लोकतंत्र को ''राजनीतिक निर्णय लेने की ऐसी संस्थात्मक व्यवस्था'' बताते हैं जिसमें व्यक्ति लोगों का मत प्राप्त करके प्रतिद्वन्द्वात्मक संघर्ष के द्वारा निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। जनता का मत प्राप्त करने का संघर्ष एक सामान्य प्रभुता प्राप्त मतदाता की इच्छा और हित के अनुसार, नहीं होता, बल्कि उदार लोकतंत्रों में सत्तारूढ़ पार्टी प्रभावशाली या प्रबल वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है और जब कोई भी पार्टी ऐसा करना बंद करती है तो इसे समाज और शांति के लिए खतरे के रूप में उछाला जाता है।

राजनीतिक पार्टियाँ शून्य में नहीं बनतीं। वे सिर्फ अपने नेताओं और अनुयाइयों के लिए नहीं बनाई जातीं। वे अनिवार्य रूप से कुछ विशेष वर्गों की सामाजिक ताकत के समर्थन के बल पर जिंदा रहती हैं। ये राजनीतिक पार्टियाँ अपनी समर्थक ताकतों के हितों की रक्षा करती हैं और उनको प्रोत्साहित करती है। वर्ग विभाजित सभी समाजों में यह वर्गीय झुकाव विभिन्न राजनीतिक पार्टियों की नीतियों और कार्यक्रमों में स्पष्ट रूप से उभरकर आता है। किसी भी लोकतंत्र की वास्तविक प्रकृति या उसके प्रतिनिधिकता को बारी-बारी से या लगातार चुनकर सत्ता में आने वाली प्रमुख राजनीतिक पार्टियों की विचारधारा, नीतिगत कार्यक्रम और उनके स्वरूपों के अध्ययन से समझा जा सकता है। इस प्रकार के विश्लेषण यह भी प्रमाणित करते हैं कि सत्तारूढ़ वर्ग पार्टियाँ प्रायः मतदाताओं को व्यापक रूप से प्रभावित करने के लिए बेहद लोकवादी नीतियाँ अपनाकर चुनाव जीतती हैं।

सहभागितापूर्ण लोकतंत्र (Participating Democracy)

अभी बताया गया है कि लोकतंत्र में किस तरह अभिजात्य, नौकरशाही और लोकवादी विकृतियाँ घर कर जाती है। इसे देखते हुए कुछ लेखकों ने विकृतियों के निवारण के लिए सहभागितापूर्ण लोकतंत्र के विकल्प का सुझाव दिया है। इन लेखकों के अनुसार, लोकतंत्र का वास्तविक लाभ केवल तभी लिया जा सकता है जब जनता की सहभागिता

के विभिन्न स्तरों पर आधारित, निर्णय लेने की संस्थात्मक व्यवस्था मौजूद हो। लोकतंत्र का ऐसा राजनीतिक ढाँचा केवल तभी सम्भव है जब लोग यह जाने कि सामाजिक, आर्थिक विकास का लाभ उन सबको समान रूप से मिल रहा है। दूसरे शब्दों में, वास्तविक लोकतंत्र केवल सहभागितापूर्ण समाजवादी राज्य व्यवस्था के अंतर्गत ही बना रह सकता है, जहाँ लोग अपने राजनीतिक निर्णय अपने बल पर ले सकते हैं, और वे सच्चे अर्थों में प्रभुता प्राप्त मतदाता हो जाते हैं।

21.3 भारत में लोकतांत्रिक विचारों और संस्थाओं का विकास

भारत में लोकतांत्रिक विचारों और संस्थाओं का विकास ब्रिटिश शासन के प्रभाव, राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्रता के बाद राज्य व्यवस्था के विकास की पृष्ठभूमि में हुआ।

21.3.1 ब्रिटिश शासन का प्रभाव

भारत में आधुनिक लोकतांत्रिक विचारों और संस्थाओं के विकास में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन और उपनिवेश विरोधी स्वतंत्रता संघर्ष का अनुभव निर्णायक था। उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में जब इस पूर्व औपनिवेशिक भारतीय समाज पर औपनिवेशिक शासन लागू किया गया तब लोकतंत्र और राष्ट्रवाद के विचारों ने सुनिश्चित रूप धारण करना शुरू कर दिया। औपनिवेशिक शोषण के लिए आर्थिक और प्रशासनिक ढाँचे की जरूरत थी, जिसने बाद में उत्पादन की नई सामाजिक ताकतों को सक्रिय किया। इनमें से एक नई सामाजिक गतिशीलता उभर कर आई जिसने सुधारवादी, राष्ट्रवादी, उदारवादी और लोकतांत्रिक विचारों के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

भारतीय पुनर्जागरण और लोकतंत्र

भारत में लोकतांत्रिक और प्रतिनिधिक संस्थाओं को शुरू करने की माँग राममोहन राय और भारतीय पुनर्जागरण के दिनों में उठी। लेकिन भारत के पुनर्जागरण में उदार लोकतंत्र की ओर बढ़ने का प्रयास काफी कमजोर रहा। इसमें भारत के सामाजिक ढाँचे और उसकी मूल्य व्यवस्था के मूलगामी सुधारवादी आत्म आलोचनापरक मूल्यांकन की कमी थी। फिर पुनर्जागरण के दौरान किए गए इन अनमने प्रयास को भी किसी प्रमुख सामाजिक वर्ग का समर्थन प्राप्त नहीं था। यह शिक्षित लोगों के एक छोटे से समुदाय तक ही सीमित था। अतः इसमें भारतीय समाज के सामाजिक और वैचारिक रूपांतरण के लिए क्रांतिकारी इच्छा और शक्ति की कमी थी। पश्चिम में हुई सामंतवाद विरोधी क्रांति के सामाजिक आंदोलनों, और उनके पूँजीवाद में बदलने जैसे स्थितियों के विपरीत भारत में लोकतांत्रिक आंदोलन पूर्व पूँजीवादी विचारों से बिना सम्बंध-विच्छेद किए आगे बढ़ा। परिणास्वरूप भारत में लोकतंत्र और पूँजीवाद हमेशा ही पुनर्रूत्थानवाद और जाति, भाषा, क्षेत्र और धर्म की संकीर्ण परम्पराओं से ग्रस्त रहे।

आधुनिक भारतीय परिप्रेक्ष्य में भारत में पश्चिमी शिक्षा का आगमन उदारवाद, लोकतंत्र और राष्ट्र निर्माण के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी। इससे शिक्षित वर्गों को वैज्ञानिक आधार पर उद्योग और व्यापार के संगठन में सफलता प्राप्त हुई। इस शिक्षित वर्ग में से ही राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व उभरा। कांग्रेस राष्ट्रवादी मंच का गठन शिक्षित अभिजात्यों की पहल पर ही किया गया था। प्रारम्भिक राष्ट्रवादियों के अनुसार, वस्तुतः शिक्षित वर्ग की एकता ही भारतीय राष्ट्रीय एकता की सूचक थी (सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी)।

प्रारंभिक राष्ट्रवादी और लोकतंत्र

प्रारंभिक राष्ट्रवादियों की प्रमुख सफलता शिक्षित भारतीयों के बीच लोकतंत्र और राष्ट्रवाद के संदेश के प्रसार में निहित थी। शुरू में उन्होंने भारत पर ब्रिटिश अधिपत्य के ढाँचे के अंदर ही प्रतिनिधिक संस्थाओं के गठन की माँग की। यहाँ तक कि, ''स्वराज''

और ''स्वदेशी'' जैसे नारों का राजनीतिक संदेश भी ब्रिटिश शासन की सीमाओं से बाहर नहीं गया।

शुरू में, इसीलिए, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उस जुझारूपन और ऐसे कार्यक्रम का अभाव था जो भारत में स्वतंत्रता और लोकतंत्र की स्थापना के संघर्ष के लिए आवश्यक था। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अभिजात्य वर्ग औपनिवेशिक आचार-विचार और मूल्य व्यवस्था के आकर्षण में इतनी गहराई तक फंस गया था कि वह ब्रिटिश शासन से पूरी तरह संबंध विच्छेद करने की बात भी नहीं सोच सकता था। इसी प्रक्रिया में, नरमपंथी राजनीति के काल में, प्रारम्भिक कांग्रेसी राजनीति इसलिए भी कमजोर पड़ जाती थी कि उसे अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अभिजात्यों के घेरे से बाहर अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के लिए जन समर्थन नहीं मिल पाता था। इस बाधा पर विजय पाने का प्रयास गरमपंथी नेतृत्व ने किया। लेकिन गरमपंथी नेताओं ने यह काम औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध जनता को विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक नीति के आधार पर संगठित नहीं किया, बल्कि हिन्दू-मुसलमान की धार्मिक विचारधारा के सहारे किया। राष्ट्रवाद के एक समान सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर सभी समुदायों की लोकतांत्रिक सहमति प्राप्त करने के बजाय, हिन्दू पुनरुत्थान ने राजनीति को हिन्दू-मुसलमान के बीच साम्प्रदायिक विभाजन की ओर मोड़ दिया। मजहबी कट्टरपंथियों ने तब मुसलमानों के इस डर को और मजबूत किया कि कांग्रेस प्रमुख रूप से हिन्दू दल है। इस तरह मुसलमानों के कांग्रेस से विलगाव (Alienation) ने भारत के राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिक आंदोलन को बनाया।

जन आंदोलनों के काल में लोकतंत्र

बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के आंदोलन ने उल्लेखनीय प्रगति की। 1909 के मॉर्ले-मिन्टो सुधारों ने केन्द्रीय विधान परिषद में अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए सदस्यों का अल्पसंख्या में और प्रांतीय परिषदों में प्रत्यक्ष रूप से चुने गए सदस्यों का बड़ी संख्या में प्रवेश सम्भव बनाया। 1919 के कानून ने भारत में द्वैध शासन प्रणाली (Dyarchy) शुरू की। 1935 का कानून, खिलाफत, असहयोग और नागरिक अवज्ञा आंदोलनों के परिणामस्वरूप पारित किया गया। इन आंदोलनों के दौरान लोग बड़ी संख्या में लोकतंत्र और स्वाधीनता के संघर्ष में शामिल हुए। इनमें पूँजीपतियों का एक वर्ग, मध्य वर्ग, मजदूर वर्ग और किसान शामिल थे। इन आंदोलनों में मजदूर वर्ग की साझेदारी ने राष्ट्रवादी आंदोलन और इसके नेतृत्व की शक्ति को बहुत अधिक बढ़ाया। आखिर में भारत छोड़ो आंदोलन और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की सामाजिक स्थिति के परिणामस्वरूप सत्ता भारतीयों को हस्तांतरित कर दी गयी। भारत को आजादी मिली, लेकिन इस आजादी ने भीषणतम साम्प्रदायिक हिंसा और देश का विभाजन भी देखा।

21.3.2 संविधान सभा की स्थापना

औपनिवेशिक सरकार द्वारा 1946 में 385 सदस्यों वाली संविधान सभा की स्थापना के रूप में भारत में लोकतांत्रिक सरकार और स्वाधीनता का संघर्ष अपने चरम पर पहुँच गया। इस संविधान सभा में हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख सहित अन्य विविध मतों का प्रतिनिधित्व था। परंतु संविधान निर्माताओं की यह संस्था अपने चरित्र में पूरी तरह प्रतिनिधिक नहीं थी। इसके 292 सदस्यों का चुनाव 11 प्रांतों (प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश द्वारा शासित) की उन विधान सभाओं द्वारा किया गया था जो वयस्क जनसंख्या के लगभग पाँचवें हिस्से द्वारा सीमित मताधिकार के आधार पर चुनी जाती थीं। 93 सदस्य देशी रियासतों के शासकों द्वारा नामजद किए जाते थे। ये रियासतें पूरी तरह ब्रिटिश अधिपत्य में थीं। अगस्त 1947 में देश के विभाजन ने इस संस्था के आकार को घटाकर 298 सदस्यों तक सीमित कर दिया। इनमें 208 कांग्रेस के प्रति वफादार थे।

संविधान सभा ने भारत में लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना को दिशा दी। 1950 तक इसने संसद के रूप में काम करने के साथ-साथ विधान निर्मात्री संस्था के रूप में भी काम किया। इसमें कांग्रेस पार्टी सबसे अधिक प्रभावशाली थी, इसलिए स्वाभाविक रूप से भारतीय संविधान के दर्शन पर उसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। भारतीय संविधान का वास्तविक स्वरूप विधि विशेषज्ञों की किसी स्वायत्त संस्था द्वारा नहीं, बल्कि कांग्रेस के उदारवादी पंथ द्वारा गढ़ा गया था। यह संविधान किसी भी अन्य बात की तुलना में कांग्रेस पार्टी द्वारा अपनाई गयी राजनीतिक विचारधारा का एक वैधानिक स्वरूप अधिक था। और भारत में सरकार का स्वरूप, संघवाद, धर्म निरपेक्षता और लोकतांत्रिक अधिकार जैसी उदार लोकतांत्रिक संस्थाएँ स्थापित करने के सभी निर्णय कांग्रेस पार्टी और उसके हाईकमान स्तर पर लिए जाते थे। यह बात भारतीय संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा सदन में यह कहते हुए स्वीकार की गयी थी कि ''उन्हें कोई निर्णय लेने के लिए सभाभवन से अन्यत्र जाना पड़ता था, और फिर वे सदन में आते थे।''

संविधान के निर्माण में कांग्रेस का इतना अधिक प्रभाव था, इसमें अपने आप में कुछ गलत नहीं था। संविधान कभी भी पूरी तरह वैधानिक ढाँचे के अंदर नहीं बनते। 1787 का फिलडेल्फिया सम्मेलन (अमेरिका) और 1778-91 की फ्रांस की नेशनल असेंबली (राष्ट्रीय विधान मंडल) दोनों ही इस मामले में वैधानिक शर्तों से कहीं बहुत आगे निकल गए थे। फिर भी उनमें और भारतीय संविधान सभा में एक प्रमुख अंतर था। उनमें उनकी सामाजिक स्थिति का क्रांतिकारी बदलाव साफ-साफ झलकता था। जबकि भारत के साथ ऐसा नहीं था। भारत की आजादी उस तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति में किए गए समझौते को ही अधिक सामने लाती है जिसने देश के विभाजन की सच्चाई से सामना कराया। ऐतिहासिक परिस्थिति कांग्रेस पार्टी और उसके नेतृत्व के नियंत्रण से परे प्रतीत होती थी। तथापि देश के विभाजन से कांग्रेस को अपनी मर्जी का संवैधानिक ढाँचा तैयार करने के लिए संविधान सभा में खुली छूट मिल गयी। पहले मुस्लिम लीग से सुलह समझौते की बातचीत चलते रहने के कारण यह छूट नहीं थी।

21.4 मूल अधिकारों और नीति निदेशक सिद्धांतों का प्रश्न

बड़ी संख्या में संविधान सभा के सदस्य और कांग्रेस पार्टी का नेतृत्व दोनों ही लोकतंत्र की पाश्चात्य उदार परम्परा से गहराई तक प्रभावित और सहमत थे। स्वयं आजादी की लड़ाई के प्रारम्भ से ही आधारभूत मानव अधिकारों और प्रत्येक व्यक्ति की निजी राजनीतिक स्वतंत्रता की उनकी वकालत उदार लोकतांत्रिक सिद्धांत का प्रतीक थी। कांग्रेस पार्टी अपने इन वायदों को संविधान में शामिल करने के लिए वचनबद्ध थी। इसलिए मूल अधिकारों को संविधान के अत्यधिक पवित्र भाग के रूप में घोषित किया गया। ग्राम, परिवार, जाति या समुदाय की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति को आधारभूत वैध इकाई माना गया। अंतर्मुखी सामाजिक दृष्टिकोण और स्थानीय संकीर्ण अनुदारवादी संबंधों के आधार पर विभाजित समाज के घोर साम्प्रदायिक ढाँचे की पृष्ठभूमि में बुर्जुआ न्याय और समानता की दिशा में आगे बढ़ा हुआ यह एक महान कदम था। इसके अलावा, भाषण और अभिव्यक्ति, धर्म और आस्था, सभा और संघ निर्माण, व्यवसाय सम्पत्ति के अर्जन, संचयन और वितरण की स्वतंत्रता के अधिकारों को न्यायालय व्यवस्था द्वारा लागू किया गया। इस संदर्भ में न्यायिक समीक्षा की प्रक्रिया और न्यायापालिका की स्वतंत्रता को पवित्र माना गया। न्यायालयों की एक श्रेणीबद्ध या सोपानिक व्यवस्था बनाई गई जिसमें भारतीय सर्वोच्च न्यायालय शीर्ष पर रखा गया। न्यायिक समीक्षा और स्वतंत्र न्यायपालिका का उद्देश्य नागरिकों के अधिकार और सम्पत्ति की रक्षा करना था। भारत में उदारवादी लोकतंत्र के इस संदर्भ में न्यायालयों को संविधान की व्याख्या के पूर्ण अधिकार प्रदान किए गए।

दूसरी ओर संविधान के नीति निदेशक सिद्धांत (जैसे कि भारतीय संविधान के चौथे भाग में निरूपित हैं) मूलभूत घोषित किए गए। लेकिन देश के अभिशासन में उन्हें किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं बनाया गया। इसलिए इन सिद्धांतों पर कभी व्यावहारिक अमल नहीं हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) गरमदल के राष्ट्रवादी :

   i) लोकतांत्रिक आदर्शों और मूल्यों को लोगों तक पहुँचाने में सक्षम थे। ( )

   ii) लोकतांत्रिक आदर्शों और मूल्यों को लोगों तक पहुँचाने में सक्षम नहीं थे। ( )

   iii) उन्होंने लोकतांत्रिक मूल्यों का धर्म और पुनर्जागरणवाद के माध्यम द्वारा लोगों तक पहुँचाने की कोशिश की। ( )

   iv) इनमें से एक भी नहीं। ( )

2) स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय लोकतंत्र की उपलब्धियों का प्रमाण चिह्न था किः

   i) जाति और समुदाय की आधारभूत वैधानिक इकाई के रूप में माना गया। ( )

   ii) प्रत्येक व्यक्ति को आधारभूत वैधानिक इकाई के रूप में मान्यता दी गयी। ( )

   iii) दोनों i) और ii) सही हैं। ( )

   iv) इनमें से एक भी नहीं। ( )

21.5 लोकतांत्रिक राज्य की ओर

भारत में सत्ता की उदार परम्पराओं के विकास का एक लम्बा इतिहास है। संविधान सभा के फैसले के साथ ये रातोंरात स्थापित नहीं हुई थी। भारतीय पुनर्जागरण काल से लेकर 1947 में आजादी के समय तक भारतीय राजनीतिक अभिजात्य वर्ग शासन की ब्रिटिश व्यवस्था की कार्य-प्रणाली से भली-भाँति परिचित हो चुका था। इसलिए भविष्य में भारतीय राज्य के शासन के लिए राज्य ढाँचे के चुनाव में, ब्रिटिश नमूने (मॉडल) की कार्य पद्धति के अनुभव का प्रभाव स्वाभाविक रूप से बहुत अधिक था। अतः जब भारत में राज्य-शक्ति के औपचारिक संस्थागत तंत्र के निर्माण का कार्य संविधान सभा को सौंपा गया तो उन्होंने स्वेच्छा से वेस्टमिनिस्टर नमूने (मॉडल) के आधार पर निर्मित सरकार की संसदीय प्रणाली का चुनाव किया।

21.5.1 केन्द्र में संसदीय व्यवस्था

शासन की संसदीय प्रणाली में विधायिका या विधानमंडल के प्रति कार्यकारिणी (मंत्रीपरिषद) के सामूहिक उत्तरदायित्व की परिकल्पना निहित है। इसमें निर्णय लेने का अधिकार मंत्रिमंडल के पास होता है और मंत्रीमंडल का नेतृत्व प्रधानमंत्री करता है। प्रधानमंत्री संसद में न केवल बहुमत वाली पार्टी या पार्टियों के संयुक्त गठबंधन का नेता होता है बल्कि वह राष्ट्र और राज्य का प्रवक्ता भी होता है। सरकार और राज्य की नीति के निर्धारण में उसका प्रभाव सबसे अधिक होता है इसलिए कुछ लोगों द्वारा तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि इस समय जिस प्रकार की सरकार काम कर रही है वह न

तो संसदीय प्रकार की है और न मंत्रिमंडलीय प्रकार की। अनेक राजनीतिक वैज्ञानिकों और टीकाकारों (भारत और ब्रिटेन में) के अनुसार, जो सरकार वस्तुतः कार्यरत है वह प्रधानमंत्री प्रकार की सरकार है। राष्ट्रपति पद केवल नाममात्र के लिए है। इसका गठन पाँच वर्षों के लिए किया जाता है और केन्द्रीय संसद के दोनों सदनों, तथा राज्य विधान मंडलों के सदस्यों से मिलकर बने निर्वाचक मंडल द्वारा किया जाता है। भारत का राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद की सलाह और सहायता से अपने कर्तव्य का पालन करता है।

21.5.2 राज्य

केन्द्र की तरह, राज्य के स्तर पर भी वास्तविक कार्यकारिणी शक्ति मुख्यमंत्री में निहित होती है, इस आधार पर कि वह राज्य विधान मंडल में बहुमत वाली पार्टी का नेता होता है। राज्य के मामलों में राज्यपाल की भूमिका शुरू से ही विवाद का विषय रही है। यह इसलिए विवादग्रस्त हो जाती है कि एक तो उसे केन्द्र द्वारा नामजद किए जाने के कारण केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में काम करना पड़ता है तो दूसरी ओर संविधान के अनुसार, उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य विधान मंडल की बहुमत वाली पार्टी और उसके नेतृत्व के अनुसार, काम करे। इस तरह केन्द्र के वफादार प्रतिनिधि और संविधान के प्रति उसकी निष्ठा वाली भूमिका में हमेशा ही संघर्ष बना रहता है। यह संघर्ष उस हालात में अधिक स्पष्ट हो उठता है जब राज्य स्तर पर सत्तारूढ़ पार्टी, केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी की राजनीतिक विरोधी होती है।

21.6 निर्वाचन व्यवस्था

सार्वजनिक मताधिकार पर आधारित सरकार के प्रतिनिधिक व्यवस्था का प्रचलन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लोकतंत्रीकरण की दिशा में एक अत्यधिक महत्वपूर्ण कदम था। इस काम के लिए राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर समूचे चुनाव तंत्र और चुनाव प्रक्रिया के पर्यवेक्षण के लिए चुनाव आयोग (अनुच्छेद 324) का गठन किया गया।

21.6.1 लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व की ओर

चुनावों को लेकर भारत का अनुभव कुल मिलाकर सकारात्मक रहा है। चुनाव आज ऐसी प्रमुख प्रणाली बन गए हैं जिसके द्वारा किसी भी नेतृत्व या पार्टी की शक्ति की परीक्षा हो जाती है। हालांकि, सार्वभौमिक मताधिकार ने आर्थिक शक्ति, सामाजिक स्थिति और राजनीतिक सत्ता के रूप में पहले से ही स्थापित जाति-वर्ग सत्ता को और अधिक मजबूत बनाया, लेकिन इसने अब तक मताधिकार से वंचित रहे सामाजिक तबकों को आवाज भी प्रदान की। इस तरह भारत में राजनीतिक सत्ता की वैधता के लिए चुनावों का केन्द्रीय महत्व हो गया है। अगर वे राजनीतिक वैधीकरण के प्रमुख औजार नहीं रहेंगे तो भारत की राजनीतिक व्यवस्था ही खतरे में पड़ सकती है। जब कभी लोकतंत्र के सामने ये प्रश्न अत्यधिक जटिल हुआ है कि निर्वाचन में किसे चुनें तब भारतीय मतदाताओं ने अपने मताधिकार का प्रयोग सूझ-बूझ के साथ किया है। इस तरह चुनाव भारतीय राजनीतिक जीवन के अनिवार्य अंग बन गए हैं। उन्हें किसी भी संकट के समाधान के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। जम्मू और कश्मीर, असम और तमिलनाडु के मामले इस बात के प्रमाण हैं। इसलिए भारत में निर्वाचन व्यवस्था का संचालन लोकतंत्र के निरंतर सुचारु रूप से चलने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

21.6.2 सीमाएँ

केन्द्रीय महत्व प्राप्त कर लेने के बावजूद, भारतीय राजनीति के संदर्भ में हम यह देखते हैं कि चुनावों ने हालात को क्रांतिकारी ढंग से नहीं बदला। चुनावों को किसी क्रांतिकारी उद्देश्य से शुरू भी नहीं किया गया था। उनको विभिन्न वर्गों की सामाजिक-आर्थिक ताकत को वैध बनाने के साधन के रूप में इस्तेमाल किया गया।

अंत में, यह कहा जा सकता है कि कुछ मामलों में निहित स्वार्थों ने अपना अधिपत्य बनाए रखने के लिए चुनाव की संस्थाओं का सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया है। यह काम जातीय, साम्प्रदायिक, भाषाई और क्षेत्रीय कट्टरता का सहारा लेकर भी किया गया। कोई भी छोटी पार्टी या कोई भी अकेला सामाजिक कार्यकर्ता चुनाव लड़ने के लिए बिना समुचित प्रचार तंत्र और धनराशि के मतदाताओं तक आसानी से पहुँच भी नहीं सकता।

21.7 संघीय राज्य व्यवस्था बनाम केन्द्रवाद : एक लोकतांत्रिक राज्य के विकल्प

समकालीन विश्व में लोकतंत्र का एक सर्वाधिक मजबूत पक्ष निर्णय लेने की प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण, संसाधनों का संग्रहण और उनका वितरण है। यह किसी भी बृहद समाज उसकी राजनीति और अर्थव्यवस्था की प्रमुख जरूरत है। संघवाद आधुनिक राष्ट्र राज्यों के व्यापक समाजों के प्रशासन के लिए समुचित संगठनात्मक ढाँचा प्रदान करता है।

21.7.1 संघवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत जैसे अत्यधिक विविधतापूर्ण समाज के संदर्भ में संघवाद, विविध समुदायों की राजनीतिक और सांस्कृतिक आकांक्षाओं को संतुष्ट करने के एकमात्र माध्यम के रूप में मौजूद है। इस दिशा में पहली प्रमुख आम राय 1916 में हासिल की गई थी जब कांग्रेस पार्टी और मुस्लिम लीग के बीच लखनऊ समझौता हुआ था। इस समझौते का मूल आधार था भावी भारतीय राज्य का संघीय चरित्र। लेकिन भारतीय एकता की आवश्यकता के रूप में इस समझौते का ठीक से पालन नहीं किया गया। इसलिए प्रारम्भ से ही, जहाँ कांग्रेस पार्टी अधिकतम सीमा तक केन्द्रीकरण के पक्ष में सक्रिय थी वहाँ मुस्लिम लीग अधिकतम सम्भव विकेन्द्रीकरण के लिए काम कर रही थी।

इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच विवाद में अवशिष्ट अधिकार (Residuary Powers) के प्रश्न पर तीखी बहस हुई। कांग्रेस राष्ट्रवादी और बहुत से बहुसंख्यक हिन्दूवादी गुट इन अधिकारों को केन्द्र को देने के लिए लड़ रहे थे तो मुस्लिम लीग और दूसरे अल्पसंख्यक समूह इन अधिकारों को राज्य सरकारों की अधिकार सीमा में रखना चाहते थे। केन्द्र और राज्य के बीच अधिकारों के विभाजन की यह बहस पंडित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में बनी सर्वदलीय समिति, गोलमेज कांफ्रेंस और बाद की समझौता वार्ताओं के मार्ग में रोड़ा बनी रही। इसी के चलते अंग्रेज सरकार ने 1942-47 के बीच दो मिशन भारत भेजे। एक ओर जहाँ कांग्रेस भारत के विभाजन को टालने के लिए समझौते पर समझौता करती चली गई, वहाँ अन्ततः मुस्लिम लीग एक मजबूत संघीय राज्य व्यवस्था के बजाय विभाजन पर डटी रही।

21.7.2 विभाजन और संघवाद

भारत के विभाजन के बाद संघीय राज्य व्यवस्था को अपनाने के बजाय संविधान निर्माता एकात्मक केन्द्र के पक्ष में मजबूती से खड़े हो गए। फिर भी भारत को संघीय सिद्धांतों के आधार पर संगठित करने की जरूरत की पूरी तौर पर उपेक्षा नहीं की जा सकी। इसलिए भारत में आज जो हम देखते हैं वह एकात्मक तत्व वाली संघीय प्रकार की सरकार है। स्वयं संविधान ने असंख्य ऐसे प्रावधान रखे हैं जिनके द्वारा केन्द्र और केन्द्र में सत्तारूढ़ मजबूत पार्टी आसानी से संघीय इकाइयों के अधिकारों का अतिक्रमण कर सकती है। उदारहण के लिए, संविधान राज्यों के राज्यपालों (केन्द्र द्वारा नामित) को राज्यों की चुनी हुई सरकारों को बर्खास्त करने का अधिकार देता है। केन्द्र के राज्यों को निर्देश देने और आपातकाल घोषित करने के अधिकारों ने भी केन्द्रवाद की ताकतों को बढ़ावा दिया।

21.7.3 प्रशासनिक और वित्तीय ढाँचे की बाध्यताएँ

भारतीय राज्य के प्रशासनिक और वित्तीय ढाँचे, इसकी अर्थव्यवस्था और इसके संगठन ने भी भारत में केंद्रित राजनीतिक ढाँचे को मजबूत किया है। कृषि, उद्योग, शिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी विकासात्मक योजनाओं के लिए संसाधन, योजना आयोग (मार्च 1950 में स्थापित) के माध्यम से मिलते थे। इस प्रक्रिया में योजना आयोग केन्द्रीकरण के पक्ष में झुकता गया और सामाजिक-आर्थिक विकास की गतिविधियाँ केन्द्र का विषय होती गयीं।

भारत की नौकरशाही, यहाँ औपनिवेशिक शासन की विरासत के रूप में बनी रही। स्वतंत्रता के समय कार्यरत अनुमानतः एक हजार भारतीय सिविल सेवा (आई.सी.एस.) के अफसरों में से, 453 भारतीय थे जो स्वतंत्र भारत के नीति निर्माता बने। संविधान सभा का हर सदस्य स्वतंत्र भारतीय राज्य के लिए इन अफसरों के अत्यधिक महत्व का कायल नहीं था। बहुत से लोकतंत्रवादी सुधारक और राष्ट्रवादी उनसे छुटकारा तक पाना चाहते थे। परंतु अंत में, जीत केन्द्रित राज्य के समर्थकों की ही हुई। उदाहरण के लिए, पटेल ने इन अफसरों की उपयोगिता का यह कह कर स्वीकारा कि : ''मैंने कठिनाई के दौर में उनके साथ काम किया है .... उन्हें हटा दीजिए, और मुझे सारे देश में अव्यवस्था की तस्वीर के अलावा और कुछ दिखाई नहीं देता''। मूलगामी नेहरू भी उनके बने रहने पर यह कहकर सहमत हो गए कि : ''पुराने भेद और मतभेद समाप्त हो गए हैं। ...... आगे आने वाले कठिन दिनों में हमारी सेनाओं और विशेषज्ञों को एक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है, और हम भारत की सेवा के लिए उन्हें साथी के रूप में काम करने के लिए आमंत्रित करते हैं''।

नौकरशाही के अलावा, केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल (सी.आर.पी.एफ.) सीमा सुरक्षा बल (बी.एस.एफ) और केन्द्रीय औद्योगिक सुरक्षा बल (सी.आई.एस.एफ.) जैसे अर्ध सैन्य संगठन भी भारत में केन्द्रित राजनीतिक शक्ति के ढाँचे को मजबूत करने में औजार के रूप में रहे हैं।

बोध प्रश्न 2

सही वक्तव्य पर (✓) निशान लगाएँ।

1) भारत में निर्वाचन पद्धति की कमजोरी है कि :

   i) राष्ट्रीय और क्षेत्रीय अभिजात्य वर्ग द्वारा जाति, सम्प्रदाय और क्षेत्रीय कट्टरता का प्रयोग करके अपने हित में इसका इस्तेमाल किया गया है। ( )

   ii) इसमें कोई भी कमजोरी नहीं है। ( )

   iii) इसने मेहनतकश गरीब और दलित वर्गों को प्रभावी प्रतिनिधित्व दिया है। ( )

   iv) इनमें से एक भी नहीं। ( )

2) भारत को एक सच्चा संघीय ढाँचा बनाने में क्या बाध्यताएँ हैं?

....

....

....

....

....

21.8 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपने लोकतंत्र की अवधारणा के संक्षिप्त इतिहास के बारे में जानकारी प्राप्त की। हमने यह भी देखा कि लोकतंत्र के विचार और लोकतांत्रिक संस्थाओं ने किस तरह भारत में आकार ग्रहण किया। अन्त में, हमने मुख्य रूप से भारतीय अनुभव के माध्यम से, उदार लोकतंत्र और इसके क्रियान्वयन की सीमाओं के बारे में जानकारी प्राप्त की।

21.9 शब्दावली

बहुमतदान : मतदान की ऐसी प्रणाली जिसमें एक व्यक्ति को एक से अधिक मत प्राप्त होते हैं।

मताधिकार वंचित वर्ग : समाज के वे वर्ग जिनके पास मताधिकार नहीं होता, यानि उन्हें अपना प्रतिनिधि चुनने का या मत देने का अधिकार नहीं होता।

आम सहमति : किसी मुद्दे पर पूर्ण सहमति।

सार्वजनिक मताधिकार : प्रत्येक व्यक्ति को मत देने और प्रतिनिधि चुनने का अधिकार।

राजनीतिक वैधीकरण : राजनीतिक मान्यता कि कुछ काम या विचार वैध हैं।

सत्ता का पैतृक सिद्धांत : वह सिद्धांत जो राजा को शासन का अधिकार देता है क्योंकि उसे अपनी प्रजा की उसी तरह देखभाल करनी होती है जैसे एक पिता अपनी संतान की करता है।

पूर्व पूँजीवादी विचारधाराएँ : वे विचारधाराएँ, यानि दुनिया के वे विचार जो पूँजीवाद से पहले प्रमुखता से प्रचलित थे। भारतीय संदर्भ में उन्हें धर्म या जाति के रूप में पहचाना जा सकता है। ये विचार पूँजीवाद के विश्वव्यापी प्रसार के संदर्भ में स्थानीय प्रकृति के थे।

प्राकृतिक सोपानिकी (श्रेणीबद्धता) की अवधारणा : वह अवधारणा जो प्राकृतिक कारणों से यानी जैविक कारणों से समाज के सम्पन्न और विभिन्न वर्गों में बंटे होने की बात करती है। इसके अनुसार, जैविक रूप से समर्थ व्यक्ति धनवान हो गए और असमर्थ व्यक्ति गरीब रह गए।

वेस्टमिंस्टर मॉडल : वह संसदीय शासन प्रणाली जिसका जन्म और विकास इंग्लैंड में हुआ (वेस्टमिंस्टर इंग्लैंड का वह स्थान हैं जहाँ उनकी संसद स्थित है) इंग्लैंड की इस संसद का उदाहरण सामने रखकर भारतीय संसदीय प्रणाली अपनायी गयी।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

21.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) iii) 2) ii)

बोध प्रश्न 2

1) i)

2) देखिए भाग 21.7। आपके उत्तर में ये बातें शामिल होनी चाहिएं :

   अ) ऐतिहासिक तथ्यों की भूमिका।

   ब) प्रशासनिक और वित्तीय ढाँचे की बाध्यताएँ।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इस पाठ्यक्रम के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

A.R. Desai, *Peasant Struggles in India*, New Delhi: Oxford University Press, 1983.

B.R. Nanda, *Mahatma Gandhi*: *A Biography*, Delhi, 1958.

Bipan Chandra, *Communalism in Modern India*, New Delhi: Vikas, 1986

Bipan Chandra, *Nationalism and Colonialism in Modern India*, New Delhi: Orient Longman, 1979.

D.N. Dhanagare, *Peasant Movements in India*, New Delhi: Oxford University Press, 1983.

Hugh Toye, 'The First Indian National Army, 1941-42', Journal Of Southeast Asian Studies, Vol. 15, No. 2 (Sep., 1984).

Judith Brown, *Gandhi's Rise to Power*, Cambridge, 1972.

Kalyan Kumar Ghosh, 'The Indian National Army-Motives, Problems and Significance', *The Indian Historical Review,* Volume xxxv, No I (January, 2008).

Kapil Kumar, Congress and Classes, New Delhi: Manohar, 1988.

Pattabhi Sitaramyya, *History of Indian National Congress. Vol. I*, Bombay, 1947.

Ravinder Kumar, *Essays on Gandhian Politics*, Oxford: Oxford University Press, 1971.

S.R. Mehrotra, *Emergence of the Indian National Congress*, Delhi: Vikas, 1971.

Sugata Bose, *His Majesty's Opponent: Subhas Chandra Bose and India's Struggle against Empire*, Harvard University Press, Cambridge, Massachusetts, 2011.

Sukomal Sen, *Working Class of India: History of Emergence and Movement*, Calcutta: K.P. Begchi, 1977.

Sumit Sarkar, *Modern India 1885-1947*, New Delhi: Macmillan,1983.

Sumit Sarkar, *Swadeshi Movement in Bengal 1903-1908*, New Delhi: Peoples' Publishing House, 1977.

Tarachand, *History of the Freedom Movement in India* (Vols. II & III), New Delhi: Publications Division, 1983.

V.C. Joshi, (ed.), *Rammohun Roy and the Process of Modernisation in India*, 1973.

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY